शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मई : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, बैसाख, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : १

शिवपुर का पन्थ

आचार्य भगवान प्रेमपूर्वक सम्बोधन करके कहते हैं कि—हे शिवपुरी के पथिक! हे मोक्षाभिलाषी! जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशित मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप है और वह प्रयत्न द्वारा साध्य है; इसलिये उन सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही मोक्ष का पंथ जानकर उद्यम द्वारा अंगीकार कर; अन्य समस्त बातों को छोड़कर प्रथम तू सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को जान!

हे जीव! शुद्धभाव के बिना तू अनंत काल से संसार परिभ्रमण कर रहा है, किन्तु शुद्धभाव को तूने कभी नहीं भाया।—कभी उसकी भावना नहीं की।

—इसलिये हे शिवपुरी के पथिक! अब सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को पहिचानकर उनकी भावना कर, उन्हें प्रयत्नपूर्वक अंगीकार कर।—यही शिवपुर का पंथ है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१६९]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अनन्त चतुष्टय का नाथ

मोक्ष की प्राप्ति के लिये कैसे आत्मा की भावना करना चाहिये, सो कहते हैं—

स्वाभाविक अनन्त चतुष्टय से जो सदा सनाथ है—ऐसे आत्मा को सहज चिद्विलासरूप से भाना चाहिये। राग के स्वामीरूप से आत्मा को नहीं भाना चाहिये; अल्पज्ञतावाले आत्मा को नहीं भाना चाहिये; किन्तु कारणरूप अनन्तचतुष्टय से सदा परिपूर्ण जिसका सहज चैतन्यविलास है—ऐसे आत्मा को भाना चाहिये। भावना अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-रमणता।

स्वभाव में तो अनंत चतुष्टय की शक्ति सदैव विद्यमान है; उस स्वभाव चतुष्टय से आत्मा 'सनाथ' है और सहज चैतन्यरूप से उसका विलास है;—ऐसे आत्मा में एकाग्र होकर उसकी भावना करने से केवलज्ञानादि अपूर्व चतुष्टय प्रगट होते हैं। इसप्रकार सहज चैतन्य विलासरूप से आत्मा की भावना करना, सो मोक्षमार्ग है।

अहा, आत्मा तो सहज चतुष्टय का स्वामी है; उसके पास त्रिकाल अनन्त चतुष्टय की शक्ति विद्यमान है; किन्तु जीव ने अनंत चतुष्टय के नाथ की कभी भावना नहीं की; उस अनन्त चतुष्टय के नाथ की जो भावना करे, वह मुक्तिसुन्दरी का नाथ होता है।

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मई : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, बैसाख, वीर नि०सं० २४८५ ☆ अंक : १

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[४३]

करणशक्ति

[गतांक नं० १६७ से आगे]

[इस 'करणशक्ति' में धर्म के साधन सम्बन्धी खूब स्पष्टीकरण किया गया है। जिज्ञासु जीवों को समझने योग्य है।]

['अहो! सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के मेरे कार्यों का साधन होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; कोई बाह्य पदार्थ मेरे साधन है ही नहीं;'—ऐसा निर्णय करनेवाला धर्मात्मा बाह्यसाधन ढूँढ़ने की व्यग्रता नहीं करता; अंतर-स्वभाव का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा को ही सम्यग्दर्शनादि का साधन बनाता है।—यह बात आचार्यदेव ने इस करणशक्ति में प्रसिद्ध की है।]

आत्मा ने स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यों को किया; किन्तु उनका साधन क्या? कर्ता ने किस साधन द्वारा अपना कार्य किया?—वह अब बतलाते हैं।

'भवते हुए भाव के भवन के साधकतमरूपमयी करणशक्ति है।' इस शक्ति से आत्मा स्वयं ही अपने भाव का साधन होता है। 'भवते हुए भाव' अर्थात् वर्तमान वर्तता हुआ भाव, सो कार्य है;

वह कार्य होने का उत्कृष्ट साधन आत्मा स्वयं ही है। साधक के आत्मा में जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य होते हैं, उनका 'साधकतम' आत्मा स्वयं ही है। यहाँ आत्मा को 'साधकतम' कहा, इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'साधक' और 'साधकतर' कोई दूसरा होगा। यहाँ 'साधकतम' अनन्यपना बतलाता है अर्थात् निर्मल भाव का साधन एक आत्मा स्वयं ही है, उसके भिन्न अन्य कोई साधन है ही नहीं।

अहो! सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक जो-जो भाव मुझमें होते हैं, उनका साधन होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; बाहर के कोई पदार्थ मेरा साधन हैं ही नहीं। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने कार्य के लिये—(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिये) बाह्य साधन ढूँढ़ने की व्यग्रता नहीं करता; वह तो अंतरस्वभाव का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा को ही सम्यग्दर्शनादि का साधन बनाता है।

'शरीर, वह धर्म का साधन है; अच्छे निमित्त, धर्म के साधन हैं; शुभराग, धर्म का साधन है'—ऐसा मानकर अज्ञानी तो उन्हीं के अवलम्बन में रुक जाता है। उसे यहाँ समझाते हैं—कि अरे जीव! तेरे धर्म का साधन होने की शक्ति तेरे आत्मा में ही है; इसलिये अंतर्मुख होकर अपने आत्मा को ही साधनरूप से अंगीकार कर। इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थों में या राग में तेरे धर्म का साधन होने की शक्ति नहीं है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों, वे सब उपचार से ही हैं; वह उपचार भी कब लागू होता है? कहते हैं कि वास्तविक साधन जो आत्मस्वभाव है, उसके अवलम्बन द्वारा जब निर्मल कार्य प्रगट करे, तब निमित्त-राग व्यवहारादि को उपचार साधन कहा जाता है। किन्तु कोई सच्चे साधन को न जानकर उपचार साधन को ही सच्चा साधन मान ले तो उसे निर्मल कार्य नहीं होता; और कार्य हुए बिना उसके साधन का उपचार भी कहाँ से लागू होगा? जहाँ निश्चय साधन द्वारा कार्य हो, वहीं दूसरों को (गुरु उपदेश आदि को) व्यवहारसाधन कहा जाता है।

धर्म का सच्चा साधन जो अपना शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है, उसका तो आश्रय नहीं लेता और व्यवहार के शुभराग आदि को ही साधन मानकर उसके अवलम्बन में रुक जाता है, उस जीव को स्वभाव की रुचि नहीं है किन्तु विकार की रुचि है; उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहाँ से होगा? जिसे आत्मा के वीतरागी धर्म का प्रेम हो, वह उससे विरुद्धभावों का आदर नहीं करता। राग तो आत्मस्वभाव से विपरीत एवं हानिकारक है, तथा जो उसे लाभकारी मानता है, वह राग को साधन मानता है, उसे राग का प्रेम है; रागरहित स्वभाव का प्रेम नहीं है। जिसे राग का प्रेम है, वह

रागरहित स्वभाव की साधना कैसे कर सकेगा ? जो सम्यग्ज्ञानी है, वह राग को अपने स्वभाव से विरुद्ध जानता है; उसे साधनरूप से नहीं जानता किन्तु बाधकरूप से जानता है; इसलिये उसमें तन्मय नहीं होता। अपने शुद्धस्वभाव को ही साधन जानकर उसमें एकता द्वारा राग का अभाव कर देता है।—इसप्रकार स्वभावसाधन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। किसी बाह्य साधन के अवलम्बन बिना आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से ही साधन होकर सिद्धि को साधता है।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं कि धर्म का साधन क्या है ? यहाँ वह साधन बतलाते हैं। भाई! आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का उत्कृष्ट साधन होने के लिये शक्तिमान है। जिसप्रकार अग्नि की उष्णता का साधन अन्य कोई नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही अपने स्वभाव से उष्णता का साधन है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा को अपने ज्ञान-आनन्द का अन्य कोई साधन नहीं है, वह स्वयं ही साधन होकर ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित होता है। एकबार आत्मा की ऐसी शक्ति का विश्वास तो कर! आत्मा के ऐसे साधन का विश्वास करे तो बाह्य साधन (निमित्तादि) ढूँढ़ने की पराश्रयबुद्धि छूट जाये और स्वभाव के साधन से अनन्त शांति हो जाये।

प्रश्नः—इन्द्रियाँ, पुस्तकें, चश्मा आदि तो ज्ञान के साधन हैं न ?

उत्तरः—ज्ञान का ऐसा पराधीन स्वभाव नहीं है कि उसे अपने से भिन्न साधन का आश्रय लेना पड़े। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है, इसलिये स्वयं ही ज्ञान का साधन है। इन्द्रियादि जड़ हैं, वे ज्ञान के साधन नहीं हो सकते। ज्ञान का साधन, ज्ञान से पृथक् नहीं होता; इन्द्रियाँ तो ज्ञान से पृथक हैं।

प्रश्नः—व्यवहार तो निश्चय का साधन है न ?

उत्तरः—निश्चयरत्नत्रय का साधन होने की शक्ति अपने द्रव्यस्वभाव ही है; क्योंकि करणशक्ति द्रव्य की है। व्यवहाररत्नत्रय में ऐसी शक्ति नहीं है कि साधक होकर निश्चयरत्नत्रय को साधे। एक स्वभाव को ही साधन बनाकर जिसने निश्चयरत्नत्रय की साधना कर ली, उसे व्यवहाररत्नत्रय उपचार से साधन कहा जाता है। वास्तव में तो आत्मद्रव्य ही साधकतम है; इसके अतिरिक्त व्यवहार से कुछ भी साध्य नहीं है।

इस समयसार में गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में प्रश्न रखा है कि 'यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ?' उसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि 'उससे कुछ भी साध्य नहीं है।' देखो, आचार्यदेव ने ऐसा नहीं कहा कि भेद द्वारा अभेद साध्य है या व्यवहार द्वारा निश्चय साध्य है; किन्तु उससे कुछ भी साध्य नहीं है—ऐसा कहा है। जहाँ अंतर के गुण-गुणी भेदरूप

सूक्ष्म व्यवहार से भी कुछ साध्य नहीं है, वहाँ अन्य स्थूल रागादि तो सिद्धि का साधन कहाँ से होंगे ? राग द्वारा अर्थात् राग को साधन बनाकर आत्मा के स्वभाव में नहीं पहुँचा जाता, किन्तु सीधे स्वभाव के अवलम्बन से ही स्वभाव में पहुँचा जाता है; इसलिये आत्मा स्वयं ही अपना साधन बनता है। जहाँ आत्मस्वभाव का अवलम्बन ले, वहाँ सम्यग्दर्शनादि अवश्य होते ही हैं; आत्मस्वभाव के अवलम्बन बिना सम्यग्दर्शनादि होते ही नहीं।—इसप्रकार आत्मस्वभाव ही अबाधित साधन है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों, वे उपचार से हैं, नियमरूप नहीं हैं—ऐसा जानना।

शुद्ध अनंत चैतन्यशक्तिवान यह आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाववाला होने से स्वयं ही साधकतम है; स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमित होने के कारण 'स्वयंभू' है। इसलिये ऐसा कहा है कि निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्यसाधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता करनी पड़े। आचार्य तो कहते हैं कि व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं। इसप्रकार शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने के कारण अत्यन्त आत्माधीन है। (देखो, प्रवचनसार गाथा-१६।) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी अन्य कारकों से निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आदि की प्राप्ति भी अन्य साधनों से निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है।

अपनी पर्यायों का साधन मैं ही हूँ और अन्य मेरा साधन नहीं है;—ऐसा निश्चय करके धर्मात्मा बाह्य साधनों का आश्रय नहीं लेते किन्तु अपने आत्मा का ही आश्रय करते हैं। आत्मा का आश्रय करने से आत्मा स्वयं ही साधन होकर निर्मल पर्यायें होती हैं। 'प्रवचनसार' गाथा १२६ में कहा है कि—

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम्॥१२६॥

(विशेष के लिये इस गाथा की टीका अथवा ३९वीं शक्ति का प्रवचन देखें।)

लोगों ने स्थूलरूप से—बाह्यदृष्टि से बाह्य साधनों को स्वीकार कर लिया है, किन्तु सूक्ष्मरूप से-अन्तर्दृष्टि करके अपने धर्म का यथार्थ साधन कभी नहीं ढूँढ़ा। अरे! बाह्य में अपने हित का साधन मानकर मैं अनंतकाल से प्रयत्न कर रहा हूँ, तथापि मुझे अपने हित की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिये अंतर में कोई अन्य साधन होना चाहिये—इसप्रकार गहराई से विचार करके जीव ने कभी सच्चे साधन की खोज नहीं की। अरे! विकार से भिन्न मेरे आत्मा का अनुभव किस साधन से

होगा ?—इसप्रकार जिसके अंतर में गहरी जिज्ञासा जागृत हुई है, उसे साधन बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा और बन्ध को पृथक करने रूप कार्य में कर्ता जो आत्मा है, उसके कारण (साधन) सम्बन्धी गहरी विचारण-मीमांसा की जाने पर, निश्चय से अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। उस प्रज्ञा द्वारा उनका छेदन किया जाने पर वे अवश्य ही पृथक्त्व को प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध को भिन्न किया जाता है अर्थात् प्रज्ञारूपी साधन द्वारा ही उनका भेदज्ञान होता है। (देखो, समयसार गाथा २९४ टीका।)

आत्मा के स्वभाव को एवं रागादि बन्ध भावों को प्रज्ञा द्वारा किस प्रकार छेदा जा सकता है ?—ऐसा प्रश्न शिष्य की ओर से होने पर आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि 'आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अंतरसन्धि में प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से उन्हें छेदा जा सकता है—ऐसा हम जानते हैं।' -(समयसार गाथा २९४ टीका)

देखो, यह साधन! आचार्यदेव स्वानुभवसहित कहते हैं कि हमने ऐसे अंतरंग साधन से ही आत्मा को बन्धभावों से पृथक् जाना है। कर्ता का साधन अपने में ही है। कर्ता का साधन सचमुच कर्ता से भिन्न नहीं होता; इसलिये कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये, वह कोई सचमुच साधन नहीं है। 'अपने से भिन्न कारण का अभाव है'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने महासिद्धान्त बतलाया है। अरे जीव! अपने साधन की गहरी खोज अपने में कर, अपने अंतर में ही साधन को ढूँढ़। जो अपने साधन को बाह्य में ढूँढ़ते हैं, वे उसकी गहरी खोज करनेवाले नहीं है किन्तु उथली बुद्धिवाले बाह्यदृष्टिवंत हैं। जो आत्महित के साधन की सच्ची मीमांसा करते हैं, गहरी खोज करते हैं, उन्हें तो अपने आत्मा में ही अपना साधन भासित होता है; राग या बाह्यद्रव्य अपने साधनरूप से किंचित् भासित नहीं होते। ज्ञान को सूक्ष्म करके (इन्द्रियों तथा राग से पार ले जाकर) अन्तरोन्मुख करने पर भगवान आत्मा का अनुभव होता है; उस अन्तरोन्मुख ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं और वही आत्मा के अनुभव का साधन है। वह प्रज्ञारूपी निर्मल पर्याय, आत्मा के साथ अभेद होने के कारण अभेदरूप से आत्मा ही स्वयं अपना साधन है। 'मैं ही अपने द्वारा ही, अपने लिये ही अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ'—इसप्रकार स्वयं में ही अभिन्न छह कारक हैं।' (देखो, समयसार गाथा २९७)

अहो! अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यों का साधकतम होने की शक्ति आत्मा में त्रिकाल है; स्वयं ही कारण होकर अपने सम्यग्दर्शनादि की साधना करे—ऐसी शक्ति स्वयं में ही है; किन्तु उसे

भूलकर साधन के लिये व्यर्थ ही बाह्य में दौड़धूप करता है। अंतर के निज साधन को भूलकर अनंतकाल में बाह्य में दौड़धूप की किन्तु कुछ भी जीव के हाथ नहीं लगा; तथापि सत्यसाधन क्या है ?—उसका गहरा विचार भी नहीं करता।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

'यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लयो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये,
वह साधन बार अनंत कियो; तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारत है मन सें, कछु और रहा उन साधन सें ?
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे!'

अरे जीव! अंतर के एक चैतन्य साधन को चूककर बाहर के अन्य साधन तूने अनंतबार किये; व्रत और तप किये, दिगम्बर मुनि-द्रव्यलिंगी होकर पंच महाव्रत का पालन किया, हजारों रानियाँ छोड़कर शुभ वैराग्य से त्यागी हुआ, शास्त्र पढ़े, वन में रहा, मौन धारण किया,—ऐसे-ऐसे अनेक साधन अनंतबार किये, तथापि अभी तक तुझे किंचित्मात्र हित की प्राप्ति नहीं हुई। तो अब तू अपने मन में क्यों विचार नहीं करता कि इन सब साधनों के अतिरिक्त अन्य कौन-सा सच्चा साधन शेष रह जाता है ? सद्गुरुगम से तू उस साधन का विचार कर।

'प्रभो! मेरे हित का साधन क्या ?'—ऐसा पूछने पर श्रीगुरु कहते हैं कि 'हे वत्स! तेरा आत्मा अनंतगुणों से परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति है, उसका अवलम्बन कर, वही तेरे हित का साधन है। तेरे आत्मा से भिन्न अन्य कोई तेरे हित का साधन नहीं है; इसलिये अभी तक माने हुए बाह्य साधनों की दृष्टि छोड़ और अंतर के चैतन्यस्वभाव की दृष्टि कर... उसका विश्वास करके उसी को साधन बना। तेरा शुद्ध आत्मा ही साध्य है और उस शुद्ध आत्मा का अवलम्बन करना ही साधन है;—इसप्रकार तेरे साध्य और साधन दोनों का तुझमें ही समावेश हो जाता है।

आत्मा की अनंतशक्तियों में एक ऐसी करणशक्ति है कि जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं, उनका साधन आत्मा स्वयं ही होता है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का उत्कृष्ट साधन आत्मा ही है। निमित्तादि परवस्तुओं में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा की निर्मल पर्याय का साधन हो, और आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि अपने निर्मल कार्य के लिये वह

किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखे। आत्मा का स्वभाव स्वयं ही साधकतम होने के कारण उसकी सन्मुखता से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, किन्तु निमित्तादि परद्रव्य कहीं आत्मा के कार्य का साधकतम नहीं है, इसलिये उसकी सन्मुखता से आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य नहीं होता। 'निमित्तादि किंचित् साधन तो होते हैं न ?—तो कहते हैं कि नहीं; निमित्त में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह आत्मा के मोक्षमार्गरूपी कार्य का किंचित् भी साधन हो। मोक्षमार्ग का साधन होने की परिपूर्ण शक्ति आत्मा में ही है।'

पुनश्च, जिसप्रकार आत्मा अपने कार्य के लिये अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता, उसीप्रकार वह साधनरूप होकर किसी अन्य का कार्य करे—ऐसा भी नहीं होता। अपनी निर्मल पर्यायों का साधन होने की आत्मा में परिपूर्ण शक्ति है, किन्तु शरीर, वाणी आदि की क्रिया में साधन हो ऐसी किंचित् शक्ति आत्मा में नहीं है; और सचमुच विकारी भावों का साधन होना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करनेवाला जीव, विकार के साधकतमरूप से परिणमित नहीं होता किन्तु अपनी निर्मल पर्याय के ही साधकतमरूप से परिणमित होता है। आत्मा अपने स्वभाव के अवलम्बन से स्वयं ही साधन होकर अपनी मुक्ति को साधता है; मुक्ति के लिये बाह्य में अन्य कोई साधन नहीं ढूँढ़ना पड़ता।

निश्चयरत्नत्रय का साधन व्यवहाररत्नत्रय है ?—तो कहते हैं कि नहीं; एक शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का अवलम्बन ही निश्चयरत्नत्रय का साधन है। व्यवहाररत्नत्रय को साधन कहना तो कथनमात्र है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह मोक्ष का या मोक्षमार्ग का साधन बन जाये। यहाँ तो साधन (-साधकतम) उसी को कहते हैं कि जो कार्य के साथ अभेद हो। आत्मा, मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ अभेद है; इसलिये आत्मा ही उसका साधन है। किन्तु राग की मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ अभेदता न होने से राग उसका साधन नहीं है और आत्मा के स्वभाव की राग के साथ अभेदता न होने से आत्मा, राग का साधन नहीं है।

प्रश्नः—तो फिर राग का साधन कौन है ?

उत्तरः—राग का कोई ध्रुवसाधन नहीं है। राग तो ऊपर की क्षणिक विकृति है और उसका साधन भी क्षणिक पर्याय ही है। पर्याय ने अंतर्मुख होकर जहाँ ध्रुवस्वभाव को अपना साधन बनाया, वहाँ विकार का साधन कोई रहता ही नहीं, अर्थात् वहाँ विकार होता ही नहीं; वहाँ तो निर्मलता ही होती है। इसप्रकार अपनी निर्मलपर्याय का साधन होना ही आत्मा का स्वभाव है। [चारित्र में भूमिकानुसार राग होते हैं, वह गौण हैं]

हे नाथ! इस आत्मा को सुखी करने के लिये किस साधन का अवलम्बन किया जाये? मेरे सुख का साधन क्या है?—इसप्रकार साधन की आकांक्षा रखनेवाले शिष्य को श्री आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तू चिन्ता न कर, तेरा आत्मा ही स्वयं तेरे सुख का साधन है; उसका अवलम्बन करते ही तू सुखी हो जायेगा; इसलिये अपने आत्मा को ही सुख का साधन जानकर उसमें अंतर्मुख हो। जब देख तभी तेरे सुख का साधन तुझमें विद्यमान ही है, अंतर्मुख होकर उसका अवलम्बन करे, इतनी देर है। अंतर्मुख होने पर तेरा आत्मा ही तेरे सुख का साधन बन जायेगा, दूसरा कोई साधन तुझे नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा।

अहो! आचार्यदेव ने कितनी अद्भुत बात समझाई है। जो यह बात समझे, उसके आत्मा में अपूर्व आनन्दोल्लास की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहेगी। अहो! मुझमें ही मेरा सुख भरा था, किन्तु अभी तक मैं उसे बाहर ढूँढ़ता रहा, इसलिये दुःखी हुआ। स्वभाव में ही मेरा सुख है—ऐसा सम्यक्भान होने पर बाह्य में सुखबुद्धि छूट गई और अपने स्वभाव में मग्न होकर आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित हुआ, उस सुख का साधन आत्मा ही है; अन्य कोई उसका साधन नहीं है।

किसमें ऐसी शक्ति है कि जिसका अवलम्बन करने से वह आत्मा की निर्मल पर्याय का साधन हो? निमित्तों में ऐसी शक्ति नहीं है, राग में भी ऐसी शक्ति नहीं है, अकेली पर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है तथा एक-एक गुण के आश्रय में भी ऐसी शक्ति नहीं है; इसलिये उन निमित्तों की, राग की, पर्याय की या गुणभेद की—किसी की सन्मुखता से निर्मल पर्याय नहीं होती। अनंतगुणों से अभेद आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति (करणशक्ति) है कि उसका अवलम्बन करने से वह निर्मल पर्याय का साधन होता है, इसलिये उसकी सन्मुखता से ही निर्मल पर्याय होती है। गुणों के भेद करके एक गुण के लक्ष से साधकपना नहीं होता; यदि एक गुण के लक्ष से ही साधकपना माने तो उसने एक गुण जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को माना है; इसलिये श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि समस्त गुणों सहित सम्पूर्ण आत्मा उसकी मान्यता में नहीं आया। अनंत गुणों से परिपूर्ण आत्मा को माने बिना कभी साधकपना हो ही नहीं सकता।

जीव विकल्प द्वारा एक गुण को पृथक् करके लक्ष में लेता है, किन्तु वस्तु में कहीं एक गुण पृथक् नहीं होता; इसलिये उस विकल्प द्वारा वस्तु प्रतीति में नहीं आती। जिस प्रकार जड़-चेतन को अत्यन्त प्रदेश भेद हैं, दोनों वस्तुओं के प्रदेश ही भिन्न हैं, उसीप्रकार कहीं वस्तु और वस्तु की अनंत शक्तियों को प्रदेश भेद नहीं है। ज्ञान के प्रदेश अलग, दर्शन के अलग, आनन्द के अलग —ऐसा

प्रदेश भेद नहीं है, तथा अनंत शक्तियों से भिन्न दूसरा कोई शक्तिमान नहीं है किन्तु शक्तिमान (वस्तु) स्वयं ही अनंत शक्तिस्वरूप है; इसप्रकार शक्तिमान और शक्तियों में स्वरूपभेद नहीं है; मात्र समझाने के लिये अभेद में भेद उत्पन्न करके एक गुण की मुख्यता से 'ज्ञान सो आत्मा' ऐसा कहा जाता है। वहाँ भेद-सन्मुख देखने से आत्मा समझ में नहीं आता; किन्तु अनंत धर्मस्वरूप एक अखण्ड चैतन्य वस्तु आत्मा है, उसके सन्मुख देखने से ही आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ में आता है। यह बात कुछ सूक्ष्म तो है, किन्तु पूर्व अनंतकाल में जो नहीं किया है—ऐसा आत्मकल्याण जिसे करना हो, उसे अंतर में बारम्बार उद्यम करके यह बात समझने योग्य है ही। इस बात को समझने पर ही भवभ्रमण से छुटकारा होगा, अन्य किसी प्रकार छुटकारा नहीं हो सकता।

श्री 'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवें अध्याय में एक सूत्र है कि—'**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**' समस्त गुण, द्रव्य के आश्रय से विद्यमान हैं अर्थात् द्रव्य स्वयं ही अनंत गुणस्वरूप है; इसलिये उस द्रव्य के आश्रय से परिणमित होने पर समस्त गुणों का निर्मल परिणमन हो जाता है; परन्तु गुण स्वयं निर्गुण है अर्थात् एक गुण के आश्रय से दूसरे गुण विद्यमान नहीं हैं; इसलिये एक गुण का भेद करके उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करना चाहे तो वह नहीं हो सकता; क्योंकि एक गुण को श्रद्धा-ज्ञान में लेते हुए दूसरे अनंत गुण शेष रह जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण वस्तु जैसी है, वैसी प्रतीति में या ज्ञान में नहीं आती; और प्रतीति में तथा ज्ञान में सम्पूर्ण वस्तु आये बिना उसमें एकाग्रता भी कहाँ से होगी ? एक ज्ञानगुण के आश्रय से केवलज्ञान प्रगट करना चाहे तो उसे केवलज्ञान नहीं होता; क्योंकि केवलज्ञान यद्यपि ज्ञानगुण की पर्याय है, तथापि वह गुण कहीं वस्तु से पृथक होकर परिणमित नहीं होता। अखण्ड वस्तु का आश्रय करके परिणमित होने पर आत्मा के समस्त गुण निर्मलरूप से परिणमित हो जाते हैं। श्रद्धागुण सम्यक्त्वरूप से, ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप से, चारित्रगुण स्वरूप में एकाग्रतारूप से, तथा आनन्दगुण आनन्दरूप से परिणमित हो जाता है। वहाँ प्रत्येक गुण का भिन्न-भिन्न अवलम्बन नहीं है; एक अखण्ड चैतन्यवस्तु का ही अवलम्बन है और वही समस्त गुणों की निर्मल पर्याय का साधन है।

भाई ! तेरे आत्मा में और प्रत्येक आत्मा के स्वरूप में जो वस्तु स्थिति है, उसी का यह वर्णन है। तुझे तेरे आत्मा का वैभव बतलाया जा रहा है। यह शक्तियाँ कहीं नवीन उत्पन्न नहीं करना है, शक्तियाँ तो तुझमें सदैव हैं ही, किन्तु तूने उनकी प्रतीति नहीं की है; इसलिये अंतर्मुख होकर प्रतीति नवीन करना है। इन शक्तियों की प्रतीति करने से अर्थात् ऐसी शक्तियों स्वरूप आत्मा को प्रतीति में

लेने से आत्मा स्वयं निर्मलरूप से परिणमित होता है और उसकी शक्तियाँ पर्याय में प्रगट हो जाती हैं, निर्मलरूप से विकसित हो जाती हैं।—इसका नाम मोक्षमार्ग है; और उन शक्तियों के सम्पूर्ण विकसित हो जाने का नाम मोक्ष है।

'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेपमां, सकल मार्ग निर्ग्रंथ।' *(-आत्मसिद्धि)*

यहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियाँ बतलाने का प्रयोजन नहीं हैं, किन्तु आत्मवस्तु अनंत शक्ति सम्पन्न है, वह बतलाना है; अनंत धर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मद्रव्य की पहिचान कराना है। कोई भी शक्ति लो, जैसे कि-जीवत्वशक्ति; वह शक्ति किसकी है?—आत्मद्रव्य की। आत्मद्रव्य कितना है?—एक साथ ज्ञानादि अनंत धर्म जितना। ऐसे आत्मद्रव्य को प्रतीति में लिये बिना उसकी कोई भी शक्ति निर्मल कार्य नहीं देती; और शुद्ध द्रव्य को प्रतीति में लेकर उसके आश्रय से परिणमित होने पर समस्त शक्तियाँ निर्मल कार्य देती हैं; द्रव्य परिणमित होने पर उसकी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित हो जाती हैं। अज्ञानी का आत्मा भी परिणमित होता तो अवश्य है; किन्तु वह स्वद्रव्य के आश्रय से परिणमित न होकर पर के आश्रय से विकाररूप परिणमित होता है; इसलिये आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं माना जाता। शक्ति का कार्य उसे कहा जाता है, जो कार्य शक्ति जैसा ही निर्मल हो तथा शक्ति के साथ अभेद हो। आत्मा अपनी करणशक्ति द्वारा साधकतम होकर अपने अनंत गुणों की निर्मल पर्यायों के साधनरूप से परिणमित होता है।—इसप्रकार भगवान आत्मा ही अपना साधन है—ऐसा जो जाने, उसे बाह्य साधन ढूँढ़ने की व्यग्रबुद्धि, आकुलताबुद्धि, मिथ्याबुद्धि, पराधीनबुद्धि नहीं रहती किन्तु स्वाश्रय करके अंतरस्वभाव में ही एकाग्र होना रहता है। उसके श्रद्धा-ज्ञान में द्रव्यस्वभाव ही मुख्य रहता है और वह जीव निःशंकरूप से स्वभाव साधन द्वारा मोक्ष को साधता है।

निमित्त से या विकार से मेरी पर्याय निर्मल होती है—ऐसा जो मानता है, उसे स्वाश्रय का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है किन्तु पराश्रय का विपरीत पुरुषार्थ है। अपने स्वभाव के साधन से ही मेरी पर्याय निर्मल होती है—ऐसा जो वास्तव में जानता है, वह तो स्वसन्मुख होकर स्वभाव का पुरुषार्थ करता है और उसी को सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य होते हैं। अहो! शुद्ध चैतन्यद्रव्य के आश्रय के अतिरिक्त गुणभेद के आश्रय से लाभ होने की मान्यता भी जहाँ उड़ा दी है, वहाँ राग के या पर के आश्रय से लाभ होने की मान्यता तो कहाँ से बनी रहेगी?

यह एक नियम है कि जिससे जिसे लाभ हो, उसके साथ उसकी एकताबुद्धि होती है। जिसे अपने से भिन्न जानता हो, उससे कोई अपने को लाभ नहीं मानता; और जिससे लाभ मानता हो, उसे अपना माने बिना नहीं रहता। शरीर से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा माननेवाला शरीर तथा आत्मा को एकरूप ही मानता है; राग से आत्मा को लाभ माननेवाला राग को और आत्मा के स्वभाव को एकरूप ही मानता है; पुण्य से धर्म होता है—ऐसा माननेवाला पुण्य को और धर्म को एकरूप ही मानता है; व्यवहार से निश्चय होता है—ऐसा माननेवाला निश्चय-व्यवहार दोनों को एकरूप ही मानता है; एक गुण के भेद के आश्रय से लाभ होता है—ऐसा माननेवाला एक ही गुण के साथ आत्मा की एकता मानता है किन्तु अनंत गुणों के साथ आत्मा की एकता को नहीं जानता; इसलिये गुणभेद के विकल्प को ही वह आत्मा मानता है।—यह सब मिथ्यादृष्टि जीव की मान्यता के प्रकार हैं। जहाँ अंतरंग-चिदानन्दस्वभाव में एकता नहीं हुई, वहाँ अन्यत्र कहीं एकता माने बिना रहता ही नहीं। धर्मी जानता है कि मेरा चिदानन्दस्वभाव ही मुझे लाभ का कारण है; और 'जिससे लाभ माने, उसके साथ एकता माने बिना रहता ही नहीं;'—इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मी अपने स्वभाव से ही लाभ मानकर उसी में एकता करते हैं और स्वभाव में एकता से उन्हें सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है।

पर्यायरूप से यद्यपि गुण ही परिणमित होता है; किन्तु गुण के भेद के आश्रय से गुण का निर्मल परिणमन नहीं होता; अभेद द्रव्य के आश्रय से ही गुणों का निर्मल परिणमन होता है। एक ज्ञानगुण के चिन्तन से केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभावी अखण्ड आत्मा के चिन्तन से केवलज्ञान होता है; उसी प्रकार एक गुण के चिन्तन से सम्यक्त्व नहीं होता किन्तु अखण्ड चिदानन्द स्वभाव के चिन्तन से ही सम्यक्त्व होता है। उसीप्रकार एक आनन्दगुण की लक्ष में लेकर चिंतवन करने से आनन्द का अनुभव नहीं होता, किन्तु आनन्दादि अनंत गुणों से अभेद आत्मा के चिंतवन से ही आनन्द का अनुभव होता है। इसप्रकार अभेद द्रव्य के आश्रय से ही उसके समस्त गुणों का निर्मल परिणमन होता है; इसलिये निर्मलता का साधन आत्मा स्वयं ही है। गुण भण्डार आत्मा स्वयं ही अपने करणशक्ति से साधकतम होकर रत्नत्रय धर्म को साधता है।

देखो, यह साधक होने की रीति! यह धर्म को साधने का उत्कृष्ट साधन! अपने स्वभाव को ही साधन बनाकर अनंत जीवों ने सिद्धपद को साधा है; वर्तमान में अनेक जीव उसी प्रकार सिद्धपद को साध रहे हैं और भविष्य में भी साधेंगे। स्वभाव साधन से बाहर अन्य साधन को जो ढूँढ़ेगा, उसे

सिद्धपद की सिद्धि नहीं होगी, वह तो संसार का ही साधक रहेगा अर्थात् संसार में ही भटकेगा। यहाँ तो स्वभाव साधन समझकर साधक होकर अपने सिद्धपद को साधें—ऐसे जीवों के लिये बात है।

अनंत गुणमूर्ति आत्मस्वभाव को ही जो अपना साधन मानता है, वह जीव निमित्त को—राग को—व्यवहार को अपना साधन नहीं मानता; इसलिये उससे लाभ नहीं मानता। जिसप्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा अन्य पुरुष का संग स्वप्न में भी नहीं करती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने चैतन्यस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी को स्वप्न में भी अपने साधनरूप से स्वीकार नहीं करते। यही साध्य की सिद्धि का साधन है; अन्य किसी साधन से साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—'अनंत चैतन्य जिसका चिह्न है—ऐसी इस आत्मज्योति का हम निरंतर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसके अनुभव बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है।'

सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलुः न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः। *(-समयसार कलश २०)*

भगवान आत्मद्रव्य में अन्य साधनों के बिना स्वयं से ही निर्मल पर्यायरूप परिणमित होने की शक्ति है; द्रव्य स्वयं परिणमित होकर समस्त गुणों का कार्य करता है। वर्तमान वर्तते हुए परिणाम के साधकतम होने की आत्मा की शक्ति है—ऐसा कहा; उसमें जो वर्तमान परिणाम लिये, वे निर्मल परिणाम हैं; क्योंकि साधक की दृष्टि त्रिकालिक शक्तिमान ऐसे द्रव्य पर गई है और उस द्रव्य के आश्रय से निर्मल परिणाम ही होता है; उस निर्मल परिणाम का ही साधन होना द्रव्य का स्वभाव है। व्यवहारसम्यग्दर्शन में ऐसा स्वभाव नहीं है कि वह निश्चयसम्यग्दर्शन का साधन हो। निश्चयसम्यग्दर्शन तो शुद्ध द्रव्य को ही साधन बनाकर होता है, और उसी साधन से वह टिकता है। इसप्रकार समस्त निर्मल पर्यायों में शुद्धद्रव्य को ही साधन समझ लेना।

साधकपने के समय निमित्तरूप से बाह्य वस्तुएँ हों तो भले हों, भूमिकानुसार राग हो तो भले हो, परन्तु साधक धर्मात्मा उन किसी को अपने साधकत्व के साधनरूप से स्वीकार नहीं करते; साधकत्व के साधनरूप से तो अपने आत्मा को ही स्वीकार किया है। उस अखण्ड साधन में से ही मोक्षमार्ग की और मोक्ष की निर्मल पर्यायों का प्रवाह चला आता है।

राग में और निमित्तों में ज्ञान का ज्ञेय होने की शक्ति है; किन्तु ज्ञान का साधन होने की शक्ति नहीं है। ज्ञान का ज्ञेय होने पर भी, जो उन्हें ज्ञान का साधन मानते हैं, वे बौद्धमती के समान मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञान का साधन तो सम्पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है; उसे साधन न बनाकर परज्ञेयों को

साधन मानता है अर्थात् ज्ञानस्वभाव में एकता न करके परज्ञेयों के साथ एकता मानता है, उसके ज्ञान का कार्य नहीं होता किन्तु अज्ञान होता है। जातिस्मरणज्ञान, जिनप्रतिमादर्शन, वेदना आदि को सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण कहे हैं, वे सब उपचार से—उन-उन निमित्तों का ज्ञान कराने के लिये कहे हैं; परमार्थ साधन तो अपना चिदानन्द भगवान ही है। यह एक ही साधन है—'एक औषधि सौ रोगों को नष्ट कर देती है;' उसीप्रकार इस एक ही स्वभाव साधन का स्वीकार अन्य समस्त बाह्य साधनों के रोग को नष्ट कर देती है अर्थात् स्वभावसाधन का स्वीकार करने से किन्हीं भी बाह्य साधनों की मान्यता छूट जाती है।

तीर्थंकर प्रकृति जड़ होने पर भी शास्त्र में कहीं-कहीं उसे भी अरिहंतपद का कारण कहते हैं; वहाँ तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है कि तीर्थंकर प्रकृति का बंध करनेवाला सम्यग्दृश्टि जीव तीसरे भव में अवश्य ही अरिहंतपद प्रगट करके तीर्थंकर होता है; वह तीर्थंकर प्रकृति के साधन से नहीं, किन्तु नित्य स्वभाव के साधन से ही। उसीप्रकार अचेतन वाणी को भी ज्ञान का साधन कहा जाता है, वह भी उपचार से ही है; वह वास्तव में ज्ञान का साधन नहीं है। ज्ञान होने का सच्चा साधन तो ज्ञानस्वभाव ही है। उस परमार्थ साधन को लक्ष में ले, उसी को सम्यग्ज्ञानादि कार्य की सिद्धि होती है। परमार्थ साधन की प्रतीति का फल मोक्ष है और बाह्य साधन को माने, उसका फल संसार है।

भगवान आत्मा अनंत शक्तिस्वरूप है; उसकी ४३ वीं 'करणशक्ति' का यह वर्णन चल रहा है। करण अर्थात् साधन; आत्मा स्वयं कर्ता होकर अपने निर्मलपर्यायरूप कार्य को करता है; किन्तु उसका साधन क्या?—तो कहते हैं कि करणशक्ति के कारण आत्मा स्वयं ही उत्कृष्ट साधन है। साधक को अपना आत्मा ही निर्मलता का साधन है। आत्मा में साधन होने की शक्ति तो त्रिकाल है, किन्तु स्वयं स्वसन्मुख होकर कभी उस साधन को ग्रहण नहीं किया है। यदि स्वसन्मुख होकर स्वभावसाधन को ग्रहण कर ले तो साधकदशा हुए बिना न रहे। त्रिकाली द्रव्य को साधनरूप से अंगीकार करने पर ज्ञानादि अनंतगुण अपनी-अपनी निर्मल पर्यायरूप से परिणमित हो जाते हैं। प्रवचनसार की २१ वीं गाथा में भी कहते हैं कि—'केवली भगवान स्वयमेव अनादि-अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करते हैं; इसलिये तुरन्त प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं....' देखो, कितनी स्पष्ट बात है! केवलज्ञान का कारण अन्य कोई है ही नहीं; अपना त्रिकाली ज्ञानस्वभाव ही केवलज्ञान का कारण है; जिस

क्षण निज द्रव्यस्वभाव के उत्कृष्ट आलम्बन द्वारा उस ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करे, उस क्षण केवलज्ञान होता है। इस केवलज्ञान की भाँति समस्त निर्मल पर्यायो में भी समझ लेना।

आत्मा को धर्म के साधनरूप से मात्र स्वद्रव्य का ही अवलम्बन है; अन्य कोई साधन नहीं है। स्वद्रव्य में अन्तर्मुख होने पर, द्रव्य स्वयं ही निर्मलपर्याय का साधन होता है, ऐसी शक्ति आत्मा में है।

ज्ञान का साधन शास्त्र नहीं किन्तु ज्ञान का साधन आत्मा ही है।

चारित्र का साधन शरीर नहीं किन्तु चारित्र का साधन आत्मा ही है। आत्मा के ही ग्रहण से ज्ञान-चारित्रादि निर्मल पर्यायें होती हैं; इसलिये आत्मा ही उनका साधन है। समयसार गाथा २७७ में कहा है कि अभेदरूप से आत्मा स्वयं ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप आदि रूप है—

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः॥२७७॥

आत्मा ही अपनी दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल पर्यायों में अभेदरूप से परिणमित होता है; इसलिये वे पर्यायें आत्मा ही हैं, उनका साधन भी आत्मा ही हैं। त्रिकाली द्रव्य, सो कारण और उसकी निर्मल पर्याय, सो कार्य; ऐसे कारण-कार्य एकसाथ अभेद हैं; अन्य कोई भिन्न कारण नहीं है।

प्रश्नः—यदि कारण-कार्य दोनों साथ ही हों तो शुद्धद्रव्यरूप कारण तो त्रिकाल है, तथापि कार्य क्यों नहीं है?

उत्तरः—शुद्ध कारण को स्वीकार करे और निर्मल कार्य न ही—ऐसा हो ही नहीं सकता; 'कारण त्रिकाल है'—ऐसा स्वीकार किसने किया? कारण को स्वीकार करनेवाला स्वयं ही निर्मल कार्य है। अज्ञानी ने तो शुद्धद्रव्य को कारणरूप से स्वीकार किया ही नहीं; उसने तो पर को कारणरूप माना है अर्थात् शुद्ध कारण उसकी दृष्टि में आया ही नहीं और सम्यग्दर्शनादि कार्य भी उसके नहीं हुआ है। शुद्ध कारण को स्वीकार करे और सम्यग्दर्शनादि कार्य न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। 'कारण है किन्तु कार्य नहीं है'—ऐसा जो कहता है, उसने वास्तव में कारण को कारणरूप से स्वीकार किया ही नहीं। ध्रुववस्तु कारण, और जहाँ उसका स्वीकार किया, वहाँ मोक्षमार्गरूप कार्य;—इसप्रकार कारण-कार्य दोनों एक साथ ही हैं। यदि कार्य नहीं है तो द्रव्य को कारणरूप से स्वीकार करनेवाला कौन है? शुद्ध द्रव्य के अवलम्बन से जहाँ शुद्ध कार्य हुआ, वहाँ भान हुआ कि अहो! मेरा स्वभाव ही मेरे कार्य का कारण है। ऐसा कारण मुझमें पहले भी था, किन्तु मैंने उसका

अवलम्बन नहीं लिया; इसलिये कार्य नहीं हुआ। अब उस शुद्ध कारण के स्वीकार से सम्यग्दर्शनादि शुद्ध कार्य हुआ।

तीर्थंकर भगवन्तों के मार्ग में तो मोक्षमार्ग का साधन शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही मोक्षमार्ग को साधा जा सकता है और वही तीर्थंकर भगवन्तों का बतलाया हुआ मुक्ति का मार्ग है। भगवान भी इसी मार्ग से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और 'हे जीवों! तुम भी इसी प्रकार अपने चिदानन्दस्वभाव को ही साधनरूप से अंगीकार करो... उसे साधन करने से ही सिद्धि होती है।'—ऐसा भगवान का उपदेश है। इसके सिवा अन्य किसी साधन से मोक्ष होता है—ऐसा भगवान ने नहीं कहा।

देखो, यह धर्म का साधन बतलाया जा रहा है। धर्म का साधन क्या है?

— देह की क्रिया, वह धर्म का साधन नहीं है;

— पुण्य, वह धर्म का साधन नहीं है;

अनंतशक्ति सम्पन्न धर्मी ऐसा जो आत्मा, वही धर्म का साधन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सो धर्म है और आत्मा का स्वभाव ही उसका साधन है। स्वामी समन्तभद्राचार्यदेव ने कहा है कि—'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्म धार्मिक के बिना नहीं होता। परमार्थतः धर्म को धारण करनेवाला ऐसा जो आत्मा (धर्मी) उसके बिना सम्यग्दर्शनादि धर्म नहीं होता। अनंत गुणों को धारण करनेवाला ऐसा आत्मा, वह धर्मी है और उसी के आधार से धर्म है। आत्मा स्वयं साधक होकर अपने धर्म को साधता है; इसलिये आत्मा साधु है; अथवा आत्मा के गुण अपनी-अपनी निर्मल पर्यायों का जतन (-रक्षा) करते हैं; इसलिये यति है; पुनश्च सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निज ऋद्धिसहित होने से वह ऋषि है। इसप्रकार आत्मा स्वभाव से सर्वसाधन सम्पन्न है।

हे जीव! तुझमें ऐसी कौन-सी अपूर्णता है जो तू बाह्य साधनों को ढूँढ़ता है? साधन होने की परिपूर्ण शक्ति तुझमें है; तेरा आत्मा ही सर्व साधन सम्पन्न होने पर भी तू बाह्य में अपना साधन क्यों ढूँढ़ता है? जैसे—किसी के यहाँ कड़ाही आदि साधन न हों तो वह पड़ौसी के यहाँ माँगने जाता है, किन्तु जिसके घर में सर्व साधन हों वह दूसरे के यहाँ किसलिये माँगने जायेगा? उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव स्वयं सर्व साधन सम्पन्न है; उसमें ऐसी कोई अपूर्णता नहीं है कि उसे दूसरों से साधन माँगना पड़े।

प्रश्नः—वीतरागता प्रगट करने के लिये वीतरागता के निमित्त तो ढूँढ़ना पड़ेंगे न?

पूर्वकाल में अन्य जीवों के लिये जो वीतरागता के निमित्त हुए हैं, उन निमित्तों को हम प्राप्त कर लें, तभी तो वीतरागता होगी ?

उत्तर:—अरे भाई ! ऐसा नहीं है; वह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर अपने स्वभाव साधन को ढूँढ़। जहाँ तू स्वभावसाधन कर लेगा, वहाँ तुझे निमित्तों को नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा। स्वभाव में साधनशक्ति की ऐसी अपूर्णता नहीं है कि अन्य साधन प्राप्त करना पड़े। 'अन्य जीवों को जो वीतरागता के निमित्त हुए, उन पदार्थों को मैं प्राप्त कर लूँ तो उनके निमित्त से मुझे वीतरागता हो;'—यह दृष्टि ही विपरीत है; उसे स्वभाव की ओर नहीं ढलना है किन्तु अभी तो उसे निमित्त प्राप्त करना है ! इसलिये साधन होने की शक्तिवाले अपने स्वभाव को वह वास्तव में मानता ही नहीं है। ज्ञानी तो अपने स्वभाव-सामर्थ्य को जानकर, उसका अवलम्बन लेकर उसी को साधन बनाता है।

जैसे—विशाल मन्दिर का निर्माण कराना हो तो पहले इस बात को लक्ष में लेना पड़ता है कि उसकी सामग्री कहाँ मिलेगी। उसीप्रकार इस आत्मा का सिद्धमन्दिर / मुक्तिमन्दिर बनाने के साधन कौन-से हैं ? उसकी यह बात है। भाई ! तेरे सिद्धमन्दिर का साधन हो, ऐसी सामग्री (-साधनशक्ति, करणशक्ति) तेरे स्वभाव में ही भरी है। उसी साधन का उपयोग करके अर्थात् उपयोग को स्वभावोन्मुख करके अपने सिद्धमन्दिर को तैयार कर। अपनी सिद्धि को साधने के लिये अपना स्वभावरूप एक ही साधन बस है; अन्य किसी साधन को मत ढूँढ़ ! अंतरंग में निश्चय साधन प्रगट किये बिना अन्य किसी को व्यवहार साधन कहा जाता नहीं—यह नियम है।

—यहाँ ४३वीं करणशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

संसार परिभ्रमण का कारण अज्ञान
और
उसके नाश का उपाय

[बांकानेर शहर में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

देह में विद्यमान आत्मा अनादि-अनन्त सत् चैतन्यतत्त्व है; उसका अन्तर स्वभाव सर्वज्ञ परमात्मा की भाँति परिपूर्ण है; जिनके सर्वज्ञता प्रगट हो गई है, ऐसे परमात्मा की वाणी, सो शास्त्र है। उसमें चैतन्य का जो स्वरूप कहा है। उसे समझे बिना जीव अज्ञानभाव से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अज्ञान के कारण चौरासी के अवतार में भटकता हुआ जीव जो अनंत दुःख प्राप्त कर रहा है। वह अज्ञान आत्मस्वरूप को समझने से दूर होता है। 'आत्मसिद्धि' की पहली ही गाथा में श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

'जे स्वरूप समज्या विना पाम्यो दुःख अनंत,
समजाव्युं ते पद नमुं श्री सद्गुरु भगवंत॥'

यहाँ भी समयसार की ९७ वीं गाथा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव—जो कि वनवासी दिगम्बर संत थे—अज्ञान को नष्ट करने की रीति बतलाते हैं। प्रथम तो चैतन्य से विरुद्ध भाव, वह विकार है; उसमें एकाकार बुद्धि से जो कर्ताकर्मपने को मान्यता है, वही अज्ञान तथा परिभ्रमण का कारण है। विकार से भिन्न चैतन्य का भान होने पर विकार के साथ की कर्ताकर्म बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह सम्यक्भान ही अज्ञान को नष्ट करने का उपाय है।

आत्मा स्व और पर में एकत्व की जो मिथ्या बुद्धि करता है, वह अज्ञान है तथा वही विकार के कर्तृत्व का मूल है;—ऐसा जो जीव समझ ले, उसे समस्त परभावों के साथ एकत्वबुद्धि छूट जाती है।—यही अज्ञान को नष्ट करने की रीति तथा भवभ्रमण के दुःख से छूटने का उपाय है।

भाई, ऐसा मनुष्यभव पाकर यही करने योग्य है। यदि यह मनुष्यभव प्राप्त करके भी चैतन्यतत्त्व को नहीं समझा तो सब व्यर्थ है। कदाचित् पुण्यबंध कर ले, किन्तु उससे चैतन्यशांति का लाभ नहीं होता; अज्ञानभाव से कदाचित् पुण्यबंध कर ले, तथापि उससे धर्म में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। जिसे पुण्य में और उसके फल में आत्मबुद्धि है, वह जीव, विकाररहित चैतन्यस्वभाव का 'आत्मभाव' प्रगट नहीं करता। किन्तु विकार भाव ही प्रगट करता है।—ऐसी विकार की

कर्तृत्वबुद्धि, सो अज्ञान है;—ऐसा जो जानता है, वह जीव उस कर्तृत्वबुद्धि को छोड़ देता है अर्थात् उसके अज्ञान का नाश हो जाता है। यही अज्ञान को नष्ट करने की रीति है।

आत्मा के स्वभाव को भूलकर जो विकार का कर्ता होता है तथा उसके फल में (—स्वर्गादि में) चकाचौंध-आश्चर्यचकित हो जाता है, उससे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूर्ख! ऐसे भाव तो तूने अनन्तकाल से किये हैं और उसके फलरूप संयोगों की प्राप्ति भी अनंतबार हुई है किन्तु भवभ्रमण से छुटकारा नहीं हुआ। भाई! यह तो भवभ्रमण से छूटने की बात है। तेरी चैतन्यजाति विकार से पृथक् है; वह पर का कुछ करे, यह भ्रम है, उस भ्रम को छोड़। पर का और विकार का कर्तृत्व मुझमें नहीं है, मैं तो चैतन्यभाव हूँ—ऐसा जो जानता है, उसे विकार के साथ या पर के साथ कर्तृत्वबुद्धिरूप अज्ञान नष्ट हो जाता है। 'ऐसी मान्यता अज्ञान है;'—इसप्रकार जो सचमुच अज्ञान को जानता है, उसके वह अज्ञान नहीं रहता।

अरे! मैं तो चैतन्य हूँ; विकार मेरा कर्म कैसे हो सकता है? मैं पवित्र ज्ञाता और विकार मलिन—वह मेरा कार्य कैसे होगा? क्षणिक दोष से पार मेरा स्थायी चैतन्यतत्त्व निर्दोष है—ऐसा समझे, अन्तर्मुख होकर जाने, उसे अज्ञान कैसे रहेगा? उसे विकार की कर्ताबुद्धि कैसे रहेगी?—नहीं रह सकती। उसे अपना आत्मा ज्ञायकरूप भासित होता है। यह अज्ञान को नष्ट करने की रीति है, इसलिये यही मोक्ष का पंथ है।

भाई, चैतन्य का स्वाद तो शांत, अनाकुल, अमृत के समान है और रागादि का स्वाद तो विकारी आकुलतामय विकृत है; इसलिये उस विकृत स्वाद के साथ तेरे चैतन्यस्वाद की एकता कैसे होगी? तू दोनों के स्वाद को अज्ञानरूप से एकमेक मान रहा है, वह अज्ञान है। वीतराग के वचन तो विकार से भिन्न चैतन्य का परम शांतरस बतलाते हैं।

वचनामृत वीतरागनां, परमशांतरसमूल,
औषध जे भवरोगनां, कायर ने प्रतिकूल। (-श्रीमद् राजचन्द्र)

अहा, वीतराग के वचन तो चैतन्य को विकार से पृथक् करके परमशांतरस का अनुभव कराते हैं; और वही भवरोग मिटाने की औषधि है; किन्तु पुरुषार्थहीन कायर जीवों को वह बात नहीं बैठती; चैतन्यस्वभाव की बात सुनकर उनके अंतर में चैतन्यवीर्य का उल्लास नहीं आता और बाह्य बातों का उल्लास आता है। अहा, भगवान की वाणी में तो विकार से भिन्न चैतन्य के अपूर्व पुरुषार्थ की बात है; वह बात जिसके हृदय में जग गई, उसे चैतन्य के परमशांतरस का स्वाद आये

बिना नहीं रहता। चैतन्य और विकार के स्वाद का भेदज्ञान किये बिना कभी शांतरस का स्वाद नहीं आता और भवभ्रमण का अंत नहीं होता। जिस प्रकार सूकर, सूकरी में और विष्ठा के स्वाद में आनन्द मानता है, उसीप्रकार सूकर जैसा अज्ञानी जीव रागादि विकार के स्वाद में आनन्द मानता है। अरे! अपने चैतन्य के स्वाद की उसे खबर भी नहीं है। अज्ञानी भी वास्तव में परवस्तु के स्वाद का अनुभव नहीं करता किन्तु अज्ञान से अपने आनन्दस्वाद को भूलकर मात्र विकार के स्वाद का अनुभव करता है। सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा के अपूर्व आनन्द का स्वाद आता है। अनादि से जैसा विकार का स्वाद लेता है, वैसे ही स्वाद का अनुभव करता रहे और धर्म हो जाये, ऐसा नहीं है। धर्म तो अपूर्व वस्तु है; जहाँ सम्यग्ज्ञान हुआ और धर्म का प्रारम्भ हुआ, वहाँ धर्मी को चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का सिद्धभगवान जैसा स्वाद आत्मा में आ जाता है। ऐसे ज्ञान और आनन्द के स्वाद बिना कभी भवभ्रमण से छुटकारा नहीं होता; इसलिये ऐसा सम्यग्ज्ञान करने योग्य है। चैतन्य के स्वाद को विकार से भिन्न जानकर भेदज्ञान द्वारा आत्मा के आनन्द का स्वाद लेना, वह भवभ्रमण से मुक्त होने का उपाय है।

☆ भेदज्ञान-प्रश्नोत्तर ☆

(समयसार—कर्ताकर्म अधिकार के प्रवचनों से)

[आत्मधर्म अंक १६८ से आगे]

(११३) प्र०—धर्मी का उपयोग जब राग में युक्त हो, तब वह ज्ञानी है या अज्ञानी ?

उत्तर—धर्मी का उपयोग जब पर को या रागादि को जानने युक्त हो, उस समय भी वह ज्ञानी ही है, क्योंकि राग को जानने पर भी उस समय वह राग में तन्मयरूप से परिणमित नहीं होता; उस समय भी ज्ञान में तन्मयरूप से परिणमित होता है; इसलिये वह ज्ञानी ही है; राग का और ज्ञानस्वभाव का भेदज्ञान उस समय भी उसे वर्तता है, इसलिये वह ज्ञानी ही है।

(११४) प्र०—मिथ्यादृष्टि कैसा है ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि जब राग को जानता है, तब 'राग ही मैं हूँ'—ऐसा मानकर राग में ही तन्मयरूप से परिणमित होता है, किन्तु राग से भिन्न ज्ञानरूप से परिणमित नहीं होता, इसलिये वह अज्ञानी है; ज्ञान एवं राग का भेदज्ञान उसे नहीं होता।

(११५) प्र०—ज्ञानी का कर्म (—कार्य) क्या है ?

उत्तर—ज्ञान परिणाम ही ज्ञानी का कर्म है।

(११६) प्र०—अज्ञानी का कर्म (कार्य) क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी, रागादि परिणामों को अपने कर्मरूप से करता है, इसलिये वह उसका कर्म है।

(११७) प्र०—कर्ताकर्मपना कहाँ होता है ? और कहाँ नहीं होता ?

उत्तर—कर्ताकर्मपना एकस्वरूप में होता है, भिन्न-भिन्न स्वरूप में नहीं होता; जैसे कि ज्ञान को ज्ञानपरिणाम के साथ कर्ताकर्मपना है, क्योंकि वे दोनों एकस्वरूप हैं; किन्तु ज्ञान को रागपरिणाम के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है क्योंकि ज्ञान और राग दोनों एकस्वरूप नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। (यहाँ एकस्वरूप अर्थात् तत्स्वरूप समझना।)

(११८) प्र०—जीव को काहे का भोक्तृत्व है ?

उत्तर—अपने जिस भाव को जीव करता है, उसी का वह भोक्ता है। इसप्रकार जीव अपने भाव का ही भोक्ता है, परवस्तु का भोक्ता नहीं है।

(११९) प्र०—जीव, परवस्तु का भोक्ता क्यों नहीं है ?

उत्तर—जिसप्रकार कर्ताकर्मपना 'तत्स्वरूप' में ही होता है, भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं होता; उसीप्रकार भोक्ता-भोग्यपना भी 'तत्स्वरूप' में ही होता है, भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं होता। इसलिये जीव, परवस्तु का भोक्ता नहीं है। जिस भाव को अपने में एकमेकरूप से वह करता है, उसी का उसे वेदन होता है।

(१२०) प्र०—ज्ञानी को काहे का वेदन होता है ?

उत्तर—साधकदशा में ज्ञानी को आत्मा के ज्ञान-आनन्द का वेदन होता है; हर्ष-शोक का अल्प वेदन है किन्तु उसमें एकताबुद्धिपूर्वक उसका वेदन नहीं है, इसलिये उस वेदन की मुख्यता नहीं है।

(१२१) प्र०—सर्वज्ञपरमात्मा को काहे का वेदन है ?

उत्तर—सर्वज्ञपरमात्मा को अपने परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द का ही वेदन है; हर्ष-शोक का वेदन उन्हें जरा भी नहीं है।

(१२२) प्र०—अज्ञानी को काहे का वेदन होता है ?

उत्तर—अज्ञानी जीव, हर्ष-शोक से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को नहीं जानता, इसलिये वह हर्ष-शोक में ही एकाकार होकर उसी का वेदन करता है; ज्ञान-आनन्द का वेदन उसके किंचित् भी नहीं है। बाह्य संयोगों का वेदन तो कोई भी जीव नहीं करता।

(१२३) प्र०—ज्ञानी को ज्ञान-आनन्द का तथा हर्ष-शोक का—इसप्रकार दोनों वेदन होने पर भी ऐसा क्यों कहा है कि उसे अकेला ज्ञान-आनन्द का ही वेदन है और हर्ष-शोक का वेदन नहीं है ?

उत्तर—जिसके साथ अभेदता है, उसी का वेदन है और जिससे भिन्नता है, उसका वेदन नहीं है—इस अपेक्षा से ज्ञानी को ज्ञान-आनन्द का ही वेदन है और हर्ष-शोक का वेदन नहीं है—ऐसा कहा है। जो ज्ञान-आनन्दरूप निर्मलभाव प्रगट हुआ है, उसके साथ आत्मा की अभेदता होने से ज्ञानी उसी का वेदक है; और जो हर्ष-शोक होता है, उसे अपने स्वभाव से भिन्नरूप जानने के कारण ज्ञानी उसका वेदक नहीं है। जिस पर दृष्टि पड़ी है, उसी का वेदन है।

(१२४) प्र०—आनन्द का वेदन कैसे होता है ?

उत्तर—मेरा आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, हर्ष-शोकादि के भाव मेरे स्वभाव से भिन्न हैं—ऐसा भेदज्ञान करके, अंतर के ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर ढलने से आत्मा के आनन्द का वेदन

होता है। भेदज्ञान पश्चात् साधकदशा में यद्यपि अल्प हर्ष-शोक होता है, तथापि श्रद्धा में वेदन का तो एक ही प्रकार है।

(१२५) प्र०—'श्रद्धा में वेदन का एक ही प्रकार है'—इसका क्या मतलब?

उत्तर—धर्मी जीव की दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वरूप पर है, वहाँ वह अपने एक ज्ञानानन्दस्वरूप का ही वेदन करता है; हर्षादि के वेदन को धर्मी की दृष्टि अपने में स्वीकार नहीं करती; इसलिये श्रद्धा अपेक्षा से तो धर्मी को मात्र आनन्द का ही वेदन है। चारित्र अपेक्षा से उसे वेदन के दो प्रकार हैं।

(१२६) प्र०—'चारित्रअपेक्षा से वेदन के दो प्रकार किस तरह हैं?'

उत्तर—धर्मी जीव को अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के भानपूर्वक जितने अंश में लीनता हुई है, उतने अंश में तो आनन्द का वेदन है; और जितने हर्ष-शोकरूप अस्थिरता के भाव हैं, उतना आकुलता का वेदन भी है; इसप्रकार साधकदशा में वेदन के दोनों प्रकार एक साथ वर्तते हैं।

(१२७) प्र०—अज्ञानी के वेदन में कौन-सा प्रकार है?

उत्तर—'हर्ष-शोकादि के भाव ही मैं हूँ'—ऐसी एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी एकान्त हर्ष-शोकादि के भावों का ही वेदन करता है, इसलिये उसके वेदन में अकेला दु:ख का ही वेदन है।

(१२८) प्र०—भगवान सर्वज्ञ के वेदन में कौन सा प्रकार है?

उत्तर—सर्वज्ञ भगवान के वेदन में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द का एक ही प्रकार है; हर्ष-शोकादि का वेदन उनके जरा भी नहीं है।

—इसप्रकार वेदन के सम्बन्ध में चार बोल हुए।

(१२९) प्र०—वेदन के सम्बन्ध में चार बोल किसप्रकार हुए?

उत्तर—(१) सर्वज्ञ को मात्र आनन्द का ही वेदन है।

(२) अज्ञानी को मात्र दु:ख का ही वेदन है।

(३) साधक ज्ञानी को अंशत: आनन्द का तथा अंशत: दु:ख का—इसप्रकार दोनों वेदन हैं।

(४) साधक को दोनों वेदन होने पर भी, दृष्टि अपेक्षा से मात्र आनन्द का ही वेदन है; हर्ष-शोकादि को अपने स्वभाव में एकरूप से वह नहीं वेदता।

—इसप्रकार वेदन के चार बोल हैं।

(१३०) प्र०—इन चार बोलों में से यहाँ ७८ वीं गाथा में कौन-सा बोल लागू होता है ?

उत्तर—यहाँ चौथा बोल लागू होता है।

(१३१) प्र०—निश्चय से आत्मा काहे का कर्ता-भोक्ता है ?

उत्तर—निश्चय से वह अपने भावों का ही कर्ता-भोक्ता है।

(१३२) प्र०—अज्ञानियों को अनादिकाल से कौन-सा व्यवहार प्रसिद्ध है ?

उत्तर—सचमुच आत्मा, पर का कर्ता-भोक्ता न होने पर भी 'आत्मा, पुद्गलकर्म को करता या भोगता है'—ऐसा व्यवहार अज्ञानियों को अनादिसंसार से प्रसिद्ध है।

(१३३) प्र०—उस व्यवहार में क्या दोष है ?

उत्तर—आत्मा अपने भाव को करे तथा भोगे, और पुद्गलकर्म को भी करे तथा भोगे—तो वह दो क्रियाओं वाला सिद्ध होगा—यह महान दोष आता है। एक द्रव्य की दो क्रियाएँ होती हैं, यह बात सर्वज्ञ के मत से बाहर है; इसलिये आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, किन्तु पुद्गल परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित न हो।

(१३४) प्र०—एक आत्मा दो द्रव्यों की क्रिया क्यों नहीं करता ?

उत्तर—क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया जड़रूप है, चेतन की क्रिया चेतनरूप है; जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य की दो क्रियाएँ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है तथा जिनमत से बाहर है।

(१३५) प्र०—जगत में दो क्रियाएँ हैं, वे सब कैसी हैं ?

उत्तर—जगत में जो क्रियाएँ हैं, वे सब परिणामस्वरूप ही हैं; जड़ की क्रिया जड़ के परिणामस्वरूप है और आत्मा की आत्मा के परिणामस्वरूप; क्रिया परिणाम से भिन्न नहीं होती।

(१३६) प्र०—परिणाम कैसे हैं ?

उत्तर—परिणाम परिणामी से अभिन्न हैं। इसप्रकार वस्तु से भिन्न उसके परिणाम नहीं हैं और परिणाम से भिन्न क्रिया नहीं है; इसलिये किसी भी वस्तु की क्रिया उससे भिन्न नहीं होती।

(१३७) प्र०—इसमें क्या सिद्ध हुआ ?

उत्तर—यहाँ ऐसा सिद्ध किया कि वस्तुस्थिति से ही क्रिया और कर्ता की अभिन्नता सदैव तप रही है; कर्ता और उसकी क्रिया अभिन्न ही होती है—ऐसी वस्तु की मर्यादा है।

(१३८) प्र०—सर्वज्ञ के मत से कौन बाहर है ?

उत्तर—वस्तुस्वरूप की मर्यादा को तोड़कर जो ऐसा मानते हैं कि आत्मा, पर की क्रिया भी

करता है; वे द्विक्रियावादी—मिथ्यादृष्टि होने से सर्वज्ञ के मत से बाहर हैं। वास्तव में वे 'नमो अरहंताणं' को नहीं मानते।

(१३९) प्र०—द्विक्रियावादी सर्वज्ञ के मत से बाहर हैं—इसका क्या अर्थ ?

उत्तर—आत्मा, शरीरादि जड़ की क्रिया को करता है तथा भोगता है—ऐसा जो मानते हैं, वे द्विक्रियावादी हैं; सर्वज्ञ के मत में कही हुई दो द्रव्यों की भिन्नता को वे नहीं मानते; इसलिये वे सर्वज्ञ के मत से बाहर हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं; उन्होंने सचमुच सर्वज्ञदेव को नहीं माना।

(१४०) प्र०—आत्मा को परद्रव्य की क्रिया का कर्ता भोक्ता माननेवाला मिथ्यादृष्टि क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि जो अपने को परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मानता है, वह जीव अपने को पर से भिन्न नहीं मानता; इसलिये उसे स्व-पर की भिन्नता का भान नहीं रहता। वह एक आत्मा को अनेक द्रव्यस्वरूप से मानता है; इसलिये मिथ्यादृष्टि ही है।

(१४१) प्र०—ज्ञानी और अज्ञानी का कार्य क्या है ?

उत्तर—ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव, परद्रव्य की क्रिया तो कर ही नहीं सकता। ज्ञानी अपने ज्ञान-परिणाम को करता है और अज्ञानी अपने अज्ञान परिणाम को करता है; इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गल के परिणाम को करता हुआ कभी प्रतिपादित न हो।

(१४२) प्र०—कर्ता कौन है ?

उत्तर—जो कार्यरूप से परिणमित हो, वह कर्ता है। जैसे कि घड़ेरूप परिणमित होनेवाली मिट्टी ही घड़े की कर्ता है; कुम्हार उसका कर्ता नहीं है; क्योंकि कुम्हार घड़ारूप से परिणमित नहीं होता।

(१४३) प्र०—'कर्म' क्या है ?

उत्तर—कर्ता का जो परिणाम है, वह कर्म है। कर्ता का परिणाम उससे भिन्न नहीं होता। जैसा कि—कुम्हार की इच्छा आदि परिणाम ही कुम्हार का कर्म है, किन्तु घड़ा, कुम्हार का कर्म नहीं है, क्योंकि वह तो कुम्हार से भिन्न है। घड़ा, कुम्हार का नहीं किन्तु मिट्टी का परिणाम है; इसलिये घड़ा उस मिट्टी का कर्म (-कार्य) है।

(१४४) प्र०—'क्रिया' क्या है ?

उत्तर—कर्ता की जो परिणति, सो क्रिया है। परिणति अर्थात् परिणाम का परिवर्तन, वह क्रिया है। वह भी कर्ता से भिन्न नहीं होती। कुम्हार की क्रिया कुम्हार में है, मिट्टी में नहीं है।

(१४५) प्र०—कर्ता, कर्म और क्रिया—यह तीनों भिन्न-भिन्न वस्तु में होते हैं ?

उत्तर—नहीं; कर्ता, कर्म और क्रिया—यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं। कर्ता एक वस्तु और उसका कार्य दूसरी वस्तु में हो—ऐसा कभी नहीं होता। उसीप्रकार दो द्रव्य मिलकर एक कार्य नहीं करते और एक द्रव्य दो कार्य नहीं करता। जैसे कि—

कर्ता कुम्हार और उसका कार्य मिट्टी में—ऐसा नहीं होता; तथा कुम्हार और मिट्टी दोनों मिलकर (एकमेक होकर) घड़ारूप कार्य करें—ऐसा भी नहीं है; और एक कुम्हार कर्ता होकर अपनी इच्छा को तथा घड़े को—इसप्रकार दो कार्यों को करे, ऐसा भी नहीं होता।

(१४६) प्र०—दो मनुष्य मिलकर एक भारी पत्थर उठाते हैं—वहाँ दोनों ने मिलकर एक कार्य किया या नहीं ?

उत्तर—नहीं; दोनों व्यक्तियों का कार्य (इच्छा तथा बल) अपने-अपने में ही है और पत्थर उठाने का कार्य पत्थर में हुआ है। दो मनुष्य और पत्थर—तीनों का कार्य भिन्न-भिन्न है।

(१४७) प्र०—आत्मा और जड़कर्म—इन दोनों ने मिलकर विकार किया या नहीं ?

उत्तर—नहीं; विकार का कर्ता वह आत्मा अकेला ही है, और जड़कर्म का कार्य उस कर्म में ही है। आत्मा और जड़कर्म दोनों का परिणमन भिन्न-भिन्न है; दोनों कभी एक होकर परिणमित नहीं होते; इसलिये रागादि भावकर्म का कर्ता आत्मा ही है—ऐसा समझना।

(१४८) प्र०—ऐसा समझने से क्या होता है ?

उत्तर—ऐसा समझने से जड़-चेतन का भेदज्ञान होता है; भेदज्ञान हो ही पर के साथ कर्ताकर्मपने की बुद्धिरूप अज्ञान का नाश हो जाता है; अज्ञान का नाश होने से मिथ्यात्वादि का बंधन नहीं होता; इसलिये अल्पकाल में मोक्ष होता है। इसप्रकार अनुभव में झूलते हुए संतों ने भेदज्ञान कराया है।

(१४९) प्र०—अनुभव में झूलते हुए संतों को कैसी ऊर्मि उठी ?

उत्तर—वन में आत्मानन्द में झूलते हुए संत-मुनियों को ऐसी ऊर्मि आई कि अहो! जगत के जीव आत्मा के ऐसे ज्ञानस्वभाव को समझें.... तो उनका अज्ञान दूर हो। अहो! ऐसा भगवान आत्मा, पर से अत्यन्त भिन्न है; उसे एक बार भी यदि परमार्थदृष्टि से ग्रहण करे तो जीव के अज्ञान का ऐसा नाश हो कि उस ज्ञानधन आत्मा को पुनः बंधन न हो; इसलिये हे भव्य जीवों! आत्मा को पर के कर्तृत्व से रहित ज्ञायकस्वभावरूप ही देखो;—ऐसा संतों का उपदेश है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला ७]

अब, ऐसे अन्तरात्मा होने के लिये आत्मा को जानने का उपाय कहते हैं—

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥१७॥

मैं देहादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ; बाहर में इन्द्रियों द्वारा जो दिखाई देता है, वह सब अचेतन है; वह मैं नहीं हूँ; वे सब मुझसे भिन्न हैं—ऐसे भानपूर्वक चैतन्यस्वरूप के चिन्तन में एकाग्रता द्वारा बाह्य वचन प्रवृत्ति छोड़ देना, तथा अंतरंग विकल्प भी छोड़ देना, इसका नाम योग है और संक्षेप से यह योग, सो परमात्मा का प्रकाशक दीपक है।

देखो, अकेली वाणी को रोककर मौन होकर बैठ जाने की यह बात नहीं है; वाणी तो जड़ है; उसे रोकने का जिसका अभिप्राय है, वह तो वाणी का कर्ता होता है; उसका लक्ष जड़ पर है किन्तु आत्मा पर नहीं है। ज्ञानी तो जानता है कि वाणी जड़ है, वह वाणी मुझसे भिन्न है; उस वाणी से मेरा स्वरूप प्रकाशित नहीं होता; तथा वाणी की ओर के विकल्प द्वारा भी मेरे स्वरूप का प्रकाश नहीं होता। वाणी और विकल्प दोनों से पार होकर अन्तर्मुख चैतन्य के चिन्तन में एकाग्रता द्वारा ही मेरे स्वरूप का प्रकाशन होता है। वाणी बोलने की क्रिया होती हो, उससमय भी ज्ञानी को उससे भिन्न ऐसे अपने चैतन्य का भान है; इसलिये ऐसा कहा है कि ज्ञानी बोले, तथापि मौन है और अज्ञानी मौन होने पर भी बोलता है; क्योंकि 'मैं नहीं बोला' ऐसे अभिप्राय से वह भाषा का स्वामी होता है। वचन और विकल्प दोनों से पृथक् मैं तो ज्ञान हूँ; अपने ज्ञान द्वारा ही मैं अपने को जानता हूँ—इसप्रकार ज्ञानी स्वयं अपने आत्मा को स्वसंवेदन से प्रकाशित करता है; यही आत्मा को जानने की रीति है; इसी का

नाम योग है। इसके अतिरिक्त मन, वचन या काया के जड़ योग से आत्मा को जानना चाहे तो वह मूढ़ है; उसने चैतन्य के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा किन्तु जड़ के साथ सम्बन्ध जोड़ा है; वह ज्ञानस्वरूप में सावधान नहीं है, इसलिये उसे समाधि नहीं है। ज्ञानस्वरूप में सावधानी ही समाधि है।

भाई! एक बार सत्य का निर्णय करके उसे स्वीकार तो कर! मेरे ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कहीं मेरा सुख या शांति नहीं है—ऐसा एक बार निर्णय करे तो अंतर्मुख होने का अवसर प्राप्त हो। किन्तु जहाँ निर्णय ही मिथ्या हो, बाहर में और राग में ही शांति माने, उसे अंतर्मुख एकाग्र होने का अवसर कहाँ से प्राप्त होगा? कई लोग कहते हैं कि 'हम मृत्यु के समय समाधि रखेंगे;' लेकिन जिसने जीवन में देह से भिन्न आत्मा की दरकार नहीं की, देहादि के कार्यों को ही अपना कार्य माना है, वह देह छूटने के समय किसके बल पर समाधि रखेगा? जिसने देह से भिन्न आत्मा को जानकर बारम्बार उसकी भावना का अभ्यास किया है, उसी को देह छूटने के समय चैतन्य बल से समाधि रह सकेगी। अपने आत्मा के अतिरिक्त जीव को बाह्य में अन्य कोई शरणभूत है ही नहीं। बाह्य में दूसरे को मानकर समाधान करना चाहे, वह तो मिथ्या प्रयत्न है; संयोग छूट जाने पर उसका समाधान टिक नहीं सकेगा। और जिसने आत्मा के आधार से समाधान किया, उसके चाहे जैसे प्रतिकूल संयोगों में भी वह समाधान बना रहेगा।

स्वर्ग में असंख्य सम्यक्त्वी देव हैं; उन्हें जब आयु पूर्ण होने का समय आता है, तब शाश्वत् रत्नों के जिनबिम्बों के चरण में जाकर भक्तिपूर्वक कहते हैं कि—अहो नाथ! आपकी ही शरण है; आपके बताये हुए आत्मस्वभाव का ही शरण है; जैनधर्म की ही शरण है। प्रभो! आपके बतलाये हुए धर्म की आराधना अधूरी रह गई, इसलिये यहाँ जन्म हुआ है; अब मनुष्य भव प्राप्त करके अपनी आराधना को पूर्ण करके मुक्ति प्राप्त करेंगे।'—ऐसी भावना भाते हुए जिनेन्द्र भगवान के चरणों में ही देह छूट जाती है और परमाणु बिखरकर उड़ जाते हैं। देखो, अंतर चैतन्य की शरण भासित हुई है, इसलिये उसके बल पर ऐसी भावनापूर्वक देह छोड़ते हैं; जबकि मूढ़ अज्ञानी जीव तो असमाधिरूप से हाय-हाय करके मरते हैं।

सर्वज्ञ भगवान का उपदेश बाह्य विषयों से छुड़ाकर अंतर में चैतन्य की शरण कराता है; वही जीव का हित है; क्योंकि चैतन्य के अनुभव से ही भव का नाश होकर मोक्षसुख प्रगट होता है।

''वचनामृत वीतरागनां परम शांत रसमूल,
औषध जे भवरोगनां कायरने प्रतिकूल॥''

जिसने देह को ही आत्मा माना है, जिसे विषयों में ही सुख भासित हुआ है—ऐसे मूढ़ जीव के लिये वीतराग की वाणी बहुत प्रतिकूल होती है; क्योंकि वीतराग की वाणी तो विषयों का विरेचन करानेवाली है। मूढ़-कायर जीव, विषयों की लीनता को छोड़कर चैतन्य का दर्शन नहीं कर सकते; वे तो चैतन्य के पुरुषार्थरहित नपुंसक हैं; उनमें भवरहित ऐसे वीतराग की वाणी का निर्णय करने की शक्ति नहीं है। 'अहो जीवो! तुम्हारा सुख तुममें है; बाह्य विषयों में कहीं सुख नहीं है; आत्मा ही सुखस्वभावी है, इसलिये आत्मा में अंतर्मुख होने से ही सुख है;'—ऐसी वाणी जहाँ कानों में पहुँचे, वहाँ तो आत्मार्थी जीव के आत्मा झनकार उठती है कि वाह! यह भवरहित वीतरागी पुरुष की वाणी!! आत्मा के परम शांतरस को बतलानेवाली यह वाणी अपूर्व है! वीतरागी संतों की वाणी परम अमृत है और वह भवरोग को नाश करनेवाली अमोघ औषधी है!—इसप्रकार आत्मार्थी का आत्मा उल्लसित हो उठता है और पुरुषार्थ की दिशा स्वोन्मुख हो जाती है; विषयों में से सुखबुद्धि उड़ जाती है।—उसी ने सचमुच भवरहित वीतराग की वाणी का निर्णय किया है। बाह्य विषयों की या राग की प्रीतिवाला नपुंसक जीव, भवरहित वीतरागी पुरुषों की वाणी का निर्णय नहीं कर सकता।

स्वसन्मुखता का उपदेश देनेवाली वीतरागी वाणी का निर्णय करनेवाला ज्ञानी जीव, वचन और विकल्प की प्रवृत्ति का अवलम्बन छोड़कर, ज्ञान को अन्तर्मुख करके अपने आत्मा को समस्त पर पदार्थों से भिन्न देखता-जानता और अनुभव करता है ॥१७॥

खैरागढ़ (जिला दुर्ग मध्यप्रदेश) में

जिनबिम्ब वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव

दक्षिण के तीर्थधामों की यात्रा करके मध्यप्रदेश के तीर्थों की यात्रा में जाते समय पूज्य गुरुदेव ता० ८-४-५९ को खैरागढ़ में यात्री संघ सहित पधारे..... खैरागढ़ के भाई श्री दुलीचंदजी खेमराजजी तथा भाईश्री खेमराजजी कपूरचन्दजी की खास अनुरोध पूर्ण विनती से ३०० माइल का ज्यादा प्रवास करके गुरुदेव खैरागढ़ पधारे। गुरुदेव पधारे उस समय नगरी को बड़े ठाठबाट से शोभायमान करके उत्साह से स्वागत किया गया था। खैरागढ़ में उपरोक्त दोनों भाइयों ने तथा सेठ कंवरलालजी और घेवरचन्दजी की ओर से करीब १५०००) के खर्च से मनोज्ञ दिगम्बर जैन मन्दिर बनाया है। प्रथम खैरागढ़ में दि० जैन मंदिर या दि० जैनों की संख्या नहीं थी—किन्तु पूज्य गुरुदेव के हितकर उपदेश के प्रभाव से उपरोक्त भाइयों ने दिगम्बर जैनधर्म अंगीकार करके भारी उत्साहपूर्वक खैरागढ़ में दिगम्बर जैन मंदिर बनवाया और गुरुदेव की मंगलवर्द्धिनी छाया में इस जिनमन्दिर में श्री शान्तिनाथ भगवान की वेदी प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया गया।

वेदी प्रतिष्ठा में डोंगरगढ़ से पंडित भैयालालजी आदि पंडितजी थे और श्रीमंत सेठ श्री भागचन्दजी साहब आदि बहुत जैन भाई बहिन आये थे। दुर्ग से भी आये थे।

चैत्र सुदी १ ता० ८-४-५९ को भक्ति के बाद प्रतिष्ठा मंडप के सन्मुख श्री गुरुदेव के सुहस्त द्वारा जैनधर्म ध्वज का आरोहण हुआ। दूसरी चैत्र सुदी १ ता० ९-५-५९ को सवेरे जाप्य, इन्द्र प्रतिष्ठा यागमंडल विधान वगैरह विधि हुई.... पूज्य गुरुदेव के प्रवचन के बाद दो कुमारिका बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की थी। बाद श्री जिनमंदिर में वेदी आदि की शुद्धि की क्रिया हुई थी.... इन्द्र इन्द्राणियों तथा कुमारिका बहनों के हस्त द्वारा वेदी शुद्धि हुई बाद में यंत्रजी की स्थापना, स्वस्तिक आदि विधि पू० बहिनश्री बहिन के मंगल हस्त द्वारा हुई, दोपहर १२.०० बजे पू० गुरुदेव के मंगल हस्त से भगवान श्री शान्तिनाथ प्रभु को जिनमंदिर की वेदी पर स्थापन किया गया। गुरुदेव के हस्त से जिनेन्द्र देव की महा मंगल स्थापना का भावपूर्ण दृश्य देखकर भक्तों को बड़ा भारी आनन्द हो रहा था..... जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा के अनेक मंगलकारी कार्य पू० गुरुदेव के सुहस्त से हो रहे हैं..... सौराष्ट्र से हजार-हजार माइल से भी ज्यादा दूर आये हुए नगर में भी गुरुदेव के प्रताप से दिगम्बर जिनमंदिर और वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया गया, यह हर्ष का विषय है। भगवान की वेदी प्रतिष्ठा बहुत ही उत्साहपूर्वक हुई थी। सिर्फ एक ही दिन में भी अनेक विध कार्य

सुव्यवस्थित होकर भारी सरस वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव बहुत शोभा से भरपूर था। इस प्रसंग पर यात्रा संघ के २५० यात्री उपरांत डोंगरगढ़, दुर्ग, रायपुर आदि से स्पेशल बस द्वारा सेठ श्री भागचन्दजी वगैरह अनेक साधर्मी आये थे। दोपहर में शान्तियज्ञ एवं व्याख्यान के बाद खैरागढ़ के जैन समाज द्वारा गुरुदेव को अभिनन्दन पत्र दिया गया था। गुरुदेव के प्रवचन बाद भव्य ठाठबाठ से जिनेन्द्र की रथयात्रा हुई थी। इसप्रकार सिर्फ एक ही दिन में भी पूज्य गुरुदेव की उपस्थिति में बहुत उत्साह पूर्वक भगवान की वेदी प्रतिष्ठा का उत्सव हुआ। इसप्रकार खैरागढ़ में नूतन जिन मंदिर बनाकर अपने आंगन में श्री जिनेन्द्र भगवान की पधरायणी कराने के लिये उभय खेमराजजी तथा खैरागढ़ के मुमुक्षु धन्यवाद के पात्र हैं।

खैरागढ़ में दो कुमारिका बहिनों ने

आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा अंगीकार की

खैरागढ़ (दुर्ग) नगर में चैत्र सुदी १ को श्री शान्तिनाथ भगवान की वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव अच्छी तरह सम्पन्न हुआ। जो भाई प्रथम तो श्वेताम्बर जैन भाई थे, जिन्होंने सोनगढ़ में अपने मकान बना रखे हैं, कभी-कभी रहते भी हैं। वहाँ पूज्य गुरुदेव अपने आँगन में पधारे, इस मंगल प्रसंग पर नीचे मुजब दो कुमारिका बहिनों ने पू० गुरुदेव के सन्मुख आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की (१) तारा बहिन सेठ श्री खेमराजजी की सुपुत्री (उम्र १८ वर्ष) (२) जमना बहिन सेठ श्री घेवरचन्दजी की सुपुत्री (उम्र १७) वे दोनों बहिन बाल ब्रह्मचारी हैं, और पाँच-छह साल से सोनगढ़ में पूज्य बहिन श्री बहिन की मंगल छाया में रहकर तत्त्वज्ञान का अभ्यास करती हैं, वे तत्त्वज्ञान की जिज्ञासावंत तथा वैराग्यवंत है।

करीब ढाई साल पूर्व-जब सोनगढ़ में १४ बहिनों ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी, तब उन्हीं के साथ ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार करने की इन दोनों बहिनों की भावना थी।

दोनों के माता-पिता आदि कुटुम्बीजनों ने हर्ष पूर्वक इस मंगल कार्य के लिये उन्हें अनुमति

दी है। छोटी उम्र में आत्महित की भावना से ऐसा कार्य करने के लिये उन दोनों बहिनों को धन्यवाद है। ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेनेवाली दोनों बहिनें सोनगढ़ में ही रहती हैं।—इसप्रकार गुरुदेव की महा मंगल शीतल छाया में हजारों माइल दूर-दूर से भी अपना वतन छोड़कर अनेक जिज्ञासु आते हैं, सचमुच, गुरुदेव इस कलियुग के पवित्र कल्पवृक्ष हैं कि जिसकी शीतल छाया में मुमुक्षुओं को अपनी इष्ट वस्तु प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेनेवाली दोनों बहिनें सत्समागम से अपने जीवन ध्येय में आगे बढ़ें और संतों की छाया में अपनी पात्रता द्वारा अपना आत्महित साधें—ऐसी भावना पूर्वक इन्हें अभिनन्दन।

सच्चे सुख के लिये सीधा मार्ग (-यथार्थ उपाय)

प्रकाशनेवाले

तत्त्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१. सम्यग्दर्शन—(-दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैन धर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई है। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६ मूल्य १.६३।

२. लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५ मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३. श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह—

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी

पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्राय: सब जैन तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना-आना इत्यादि वर्णन तथा क्षेत्रों का परिचय होने से पुस्तक अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४. जैन सिद्धांत प्रनोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा नि:शंक समाधान हो सकता है और सभी को उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५. ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव—

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है। जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तु स्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म - ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त है।

३- अनेकान्त, निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४- द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकान्त। ५- अनन्त पुरुषार्थ।

६- वस्तुविज्ञान अंक, जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो—इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार-[जिसमें नियतनय, और अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है। बढ़िया जिल्द, सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे। ५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।]

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० करीब मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मँगानेवालों को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टीका कमीशन और १० पुस्तक से कम मँगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता:—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छप गया!! शीघ्र ही मँगाइये!! छप गया!!!

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।

मूल्य ४॥)

पता - (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
(२) श्री महेन्द्रकुमार सेठी
ठि० ६२ धनजी स्ट्रीट, मुंबई नं० ३

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	समयसार पद्यानुवाद	।)
प्रवचनसार	५)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
अष्टपाहुड़	३)	स्तोत्रत्रयी	॥)
चिद्विलास	१=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
आत्मावलोकन	१)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	२)	शासन प्रभाव	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)		
द्वितीय भाग	॥–)		
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।